भारतीय संस्कृति एवं ललित कलाओं का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० मनोज कुमार
ईमेलः manojgbss0@gmail.com

Reference to this paper should be made as follows:

डॉ० मनोज कुमार

भारतीय संस्कृति एवं ललित कलाओं का समीक्षात्मक अध्ययन

Artistic Narration 2022, Vol. XIII, No. 2, Article No. 16 pp. 108-114

https://anubooks.com/journal-volume/artistic-narration-2022-vol-xiii-no2

सारांश

संस्कृति और कला में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। किसी भी देश की संस्कृति आध्यात्मिक, वैज्ञानिक वे कलात्मक उपलब्धियों की प्रतीक होती है। संस्कृति एवं कला उस सम्पूर्ण देश के मानसिक विकास को दर्शाता है साथ ही कला संस्कृति की पोषक एवं संरक्षिका भी है। यदि कला को संस्कृति का दर्पण कहें तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। यद्यपि संगीत और कला दो ऐसे विषय है जिन्हें संवेगात्मक या इमोशनल माना गया है। किन्तु जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, प्रागैतिहासिक काल और वर्तमान काल को छोड़कर कम से कम दृश्य कला में तो पूर्ण संवेगात्मकता के साथ व्यवसायिक का समावेश भी रहा है। आजीविका से जुड़े होने के कारण इस पर शिल्प का कौशल प्रभावी है। दार्शनिकों के अनुसार कला चाहे कोई भी हो यथा–चित्रकला, मूर्ति कला, नृत्य कला अथवा हस्तकला जिस युग की है उसके माध्यक से हमारी संस्कृति को बोध होता है उदाहरणतः रामायण तथा महाभारत कथा को हर युग के कलाकारों ने अपनी कला के माध्यक से प्रस्तुत किया है, उसे अपने चित्रों का विषय बनाया एवं उसका मंचन भी किया। यद्यपित कलाकारों ने अपनी सोच तथा कल्पना के आधार पर उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य किये है परन्तु अर्थ वहीं है इस प्रकार कलाकार की कला, संस्कृति के परम्परागत रूप से दर्शाती हुई, परिवर्तन ग्रहण करती हुई, विकासोन्मुख रही है अर्थात् किसी देश के सांस्कृतिक विकास से तात्पर्य उस देश की कलाओं के विकास से है।

मुख्य बिन्दु

मूर्तिकला, नृत्यकला, हस्तकला, संस्कृति, प्राचीन, चित्रकला।

कला मानव संस्कृति की देन है। इसका जन्म मानव की सौन्दर्य भावना का स्त्रोत है। सौन्दर्य भावना की अभियव्यक्ति के लिये ही विभिन्न कलाओं का विकास हुआ है। कला का शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु का छोटा अंश। कला धातु से 'ध्वनि' व शब्द का बोध होता है।[1]

आधुनिक दार्शनिकों ने कलाओं को दो भागों में विभाजित किया है। उपयोगी कला और ललित कला। उपयोगी कला मानव समाज के लिये उपयोगी होती है। ललित कला सौन्दर्य प्रधान होती है। ललित कलाओं का नामकरण पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। पाश्चात्य विद्वानों (हीगेल) ने ललित कलाओं के अन्तर्गत पाँच कलायें मानी है– स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य कला। इनमें काव्य कला अर्थ प्रधान, संगीत कला ध्वनि प्रधान और चित्र तथा मूर्ति कलायें रूप प्रधान है।

प्राचीन समय से सौन्दयानुभूति को अभिव्यक्त करने के विभिन्न माध्यमों का प्रयोग मानव पीढ़ी दर पीढ़ी करता चला आया है और इन माध्यमों में कला एक विशिष्ट माध्यम है। कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भारत अत्यन्त समृद्ध एवं वैभवशाली रहा है। कला के अन्तर्गत चित्रकला तथा मूर्तिकला प्रमुख है और सभी कलाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारत के जनजीवन में केवल प्रागैतिहासिक युग से ही नही बल्कि वर्तमान में भी इनका विशेष महत्व दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि संगीत को शास्त्रों से अत्यधिक जुड़ी हुई विधा माना गया है किन्तु शास्त्रों से बँधे रहने के कारण संगीत में बाह्य प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता ही सीमित और नहीं के बराबर है। जबकि चित्रकला और मूर्तिकला का खुलापन और व्यक्तिपरक होता स्वरूप इसे रूढ़ियों से तोड़कर विकास की और उन्मुख करता है। साथ ही संगीत में व्याकरण से जुड़ने के कारण कौशल का विकास तो होता है किन्तु कलाकार के व्यक्तित्व का जुड़ाव सृजन से नहीं हो पाता है। यह तभी संभव होता है जब उन्हें प्रदर्शन अथवा प्रस्तुति के लिये श्रोताओं से रूबरू होने का अवसर मिलता है।

इस तथ्य को इंकित करने हुये सुरेन्द्र पाण्डये जी ने लिखा है– ''वस्तुतः संगीत में सृजन का क्षण वहीं होता है, जब संगीतकार अपने श्रोताओं के आमने सामने बैठकर प्रदर्शन करता है तो उसके सृजन पर श्रोताओं से भावों के आदान–प्रदान का और संगीतकारों की क्षमता का भी असर होता है। संगीत में वस्तुतः सृजन के अवसर भी सीमित है। यूरोपीय संगीत को लें पूरा का पूरा संगीत स्वर लिपि के आधार पर चलता है। मौजार्ट की बनाई गई स्वर लिपि में किसी को भी कही कुछ छूने की गंजाइश नहीं है। वैसा ही भारत में रविन्द्र संगीत के साथ भी है। संगीत की कर्नाटकी परम्परा में भी समर्थ संगीतज्ञों की बनाई स्वरलिपियों से यत्किंचित भी हटने की गुंजाइश नहीं देती है। यद्यपि हिन्दुस्तानी संगीत में अलाप की अवधारणा और राग विस्तार की गुंजाइश फिर श्री सृजन के बहुत सारे अवसर देती है। दृश्य कलाओं के साथ तो ऐसा कुछ नही होता है। यह पूरी सृजन क्रिया एकान्त में एक लम्बे समय तक टुकड़ों–टुकड़ों में चलने वाली सृजन क्रिया है।

सृजन की प्रारम्भिक अवस्था तो मात्र कौशल की अवस्था है। ऐसे में चाक्षुश कला में परम्परा और तकनीक से तो जोड़ती है, किन्तु परिस्थितियों के अधीन नित्य ही बदलने वाले दर्शको के भावों से साक्षात्कार नहीं करा पाती है। तभी यह कौशल सीखने के लिए महाविद्यालयों की शिक्षा तकनीक से जुड़ने की आवश्यकता होती है।[2]

हमारे देश में डेढ़ सौ वर्ष पूर्व कला शिक्षण की विद्यालयी व्यवस्था प्रारम्भ हुई थी और जहाँ तक कला में विद्यालयी शिक्षा का प्रश्न है यह शिक्षण व्यवस्था अंग्रेजों के शासन काल की देन है। अंग्रेजी शासन के परिणाम स्वरूप कला में यूरोपीय तकनीक का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अतः चित्रकारों द्वारा अंग्रेजी तकनीकी पद्धति को अपनाया गया तथा कुछ कलाकारों ने कला को विकसित करने हेतु कला शिक्षा ग्रहण की। जबकि संगीत की विद्यालयी शिक्षण व्यवस्था केवल सत्तर वर्ष पूर्व ही आरम्भ हो पाई थी। इस समय संगीत शिक्षा को जहाँ शास्त्रों की शुद्धता से जोडत्रा गया था वहीं कला के शिक्षण को जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ा गया।

कला शिक्षण हेतु शिक्षण संस्थान सर्वप्रथम मद्रास में सन् 1905 में विद्यालय रेजीमेन्ट के शल्य चिकित्सक डॉ0 एलेक्जेण्डर हन्टर द्यारा स्थापित किया गया और इसके प्रधान शिक्षक श्री ई0बी0 हैवेल नियुक्त किये गये और दूसरा कला विद्यालय कलकत्ता में खोला गया। यहाँ के आरम्भिक शिक्षक रिकार्ड, एक्यार, फाउलर तथा हैवले आदि थे। कुछ समय पश्चात् मद्रास स्कूल के प्रधानाचार्य श्री ई0वी0 हैवेल स्थानान्तरित होकर कलकत्ता आये और इन्होंने कविवर अवनीन्द्र नाथ टैगोर को कलकत्ता कला विद्यालय में अपने सहयोगी के रूप में आमन्त्रित किया। उन्होंने अवनीन्द्र नरथ टैगोर की उपप्रधानाचार्य के पद पर नियुक्त करा दिया। इसके बाद बम्बई में एलफिनस्टोन इन्स्टीट्यूशन में प्रसिद्ध पारसी उद्योगपति सर जमशेद जी जीजी भाई टाटा के उदार अर्थदान से 2 मार्च सन् 1957 को बम्बई कला विद्यालय में कला की कक्षायें आरम्भ की गई। सर्वप्रथम यहाँ लॉकवुड किपलिंग प्रधानाचार्य बने। इसके पश्चात सन् 1875 में मेयों स्कूल ऑफ आर्ट लाहौर कला विद्यालय का आरम्भ अंलकारिक तथा उपयोगी कलाओं की उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान करने के लिए किया गया। अवनीन्द्र नाथ टैगोर के शिश्य समरेन्द्रनाथ गुप्त के प्रधानाचार्य बनने से लाहौर कला विद्यालय में बंगला शैली का प्रभाव बढ़ा। इसके बाद लखनऊ में कला तथा शिल्प विद्यालय की स्थापना की गई। यहाँ पर प्रथम प्राचार्य के रूप में एक अंग्रेज श्री नेटहार्ड की नियुक्ति की गई। इसके बाद श्री असित कुमार हाल्दार यहाँ के प्रधान शिक्षक बने जो अवनीन्द्र नाथ टैगोर के शिश्य थे। तदोपरान्त इन्दौर कला महाविद्यालय आरम्भ हुआ जो कला जगत में महत्वपूर्ण माना जाता है। इस संस्था के आरम्भिक शिक्षक श्री दत्तात्रेय दामोदर देवलालीकर थे जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कला के शिक्षण और सृजन के लिए समर्पित कर दिया।[3]

वही संगीत की विद्यालय शिक्षा की व्यवस्था भी दो अलग अलग शास्त्रियों कला अलग–अलग अवधारणाओं के अनुसार की गई थी। आचार्य विष्णु दिगम्बर ने लाहौर में पहला

विद्यालय आरम्भ किया था। दूसरी विचारधारा के आचार्य रत्नंजकर ने लखनऊ में संगीत विद्यालय की आधारशिला रखी थी। कला और संगीत दोनों की ही विद्यालयी शिक्षा की अवधारणा प्रारम्भ से ही अलग–अलग रही है। कला शिक्षण के साथ प्रारम्भ से ही व्यवसायिकता जोड़ी गई थी, वही संगीत शिक्षण की अवधारणा शास्त्रों की शुद्धता पर आधारित है।[4]

भारतवर्ष की आज की परिस्थितियों में एक और हमारे सामने कला तथा शिल्प की शिक्षण संस्थायें, उद्योगोन्मुख समाज में ऐसी संस्थायें है जो ब्रिटिश युग में कारीगर तैयार करने के उद्देश्य से खोली गई थी। वहीं दूसरी और कविवर अवनीन्द्र नाथ टैगोर तथा कुछ अन्य कला मनीशियों के प्रयत्न से भारतीय विधि से गुरू, शिष्य परम्परा में कला की शिक्षा देने हेतु खोली गई शान्तिनिकेतन, जैसी कला शिक्षण संस्था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात कला शिक्षा पद्धति पर पुर्नविचार हुआ। पालीटैक्निक विद्यालय खोले गये। पोलीटैक्निक संस्थाओं में सात वर्ष अथवा पाँच वर्ष के पाठ्यक्रम आरम्भ हुये जिसमें चित्रकला, मूर्तिकला तथा प्रयोजन मूलक कलाओं का समावेश किया गया। सिरेमिक्स, पात्रकला, कांस्य ढलाई, मूर्ति टेरेस्ट्री आदि में समन्वित प्रयोग आरम्भ हुये।

इतिहास साक्षी है कि कलाकार सदैव नवीनता हेतु नये–नये प्रयोग करता आया है और कुछ कलाकारों ने संगीतात्मकता को दृष्य कला से जोड़ा है। कान्डिस्की के जल रंग के प्रयोग इस क्षेत्र में विशेष महत्व रखते है। शौपेन हॉवर भी दृष्य कला में संगीत के सामजस्य को सौन्दर्य की वृद्धि का कारक मानते है। संगीत की दृष्य कला के साथ चर्चा करते हुये कुछ वर्ष पूर्व लंदन में इस क्षेत्र में नये प्रयोग हुये जिसमें दृष्य कला में इलैक्ट्रानिक यन्त्रों के माध्यम से रूपाकारों को प्रक्षेपित किया गया। यद्यपि दृष्य अभिव्यक्ति के पार्श्व में साउण्ड का प्रयोग दर्शक के समक्ष एक नवीन परिवेश प्रस्तुत करता है। मात्र संगीत के सूक्षम स्वर समान ही चित्रकला में एक बिन्दु भी कलाकार के अनुभवों को, जीवन के यथार्थ सतय को छोटे से धरातल पर दर्शाने में समर्थ बन जाता है अर्थात् दृष्य कला में हम जिस प्रेरणा से, शक्ति अभिव्यक्ति की त्रिवेणी की बात करते है वहीं साहित्य में भी हैं, वहीं काव्य में भी है और संगीत में भी है।

आधुनिक युग में विभिन्न कलाओं और संगीत में परम्परा संस्कृति के साथ–साथ नयेपन का समावेश भी देखने को मिलता है। जैसे पॉप आर्ट, ऑप आर्ट, पॉप म्यूजिक, ग्राफिक्स कलायें, फोटोग्राफी, औद्योगिक डिजाइनिंग मोजेक म्यूरल्स आदि। अर्थात हम कह सकते है। कि आज के युग (उद्योगोन्मुख समाज) में संगीत एवं ललित कला एक–दूसरे से सम्बद्ध है क्योंकि दोनों ही मनुष्य के हृदय को शान्ति देने वाली है। साथ ही कलाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिये अनेक माध्यमों को प्रयोग किया है और यह प्रक्रिया प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समय में अनवरत रूप से जारी है। जल रंग व तैल रंग यद्यपि सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम है फिर भी इनके परे जाकर कलाकारों ने नये–नये संसधान खोजे। परम्परागत माध्यमों के विरूद्ध आधुनिक समय में प्रयुक्त होने वाी वस्तुओं का प्रयोग चित्रों में होने लगा। अब चित्र

डिजिडल युग में आ गये। चित्रों की रचना में कलाकरों के हाथ की जगह मशीनों या कम्प्यूटर ने ली और कला शिलाओं से चलकर कम्प्यूटर स्क्रीन तक पहुँच गई।

आज नवीनता की खोज में कलाकारों ने माध्यम को पीछे छोड़ दिया है। आज यदि मानव चाँद पर पहुँच चुका है तो कला भी सातवें आसमान पर पहुँच चुकी है जहाँ स्वयं कलाकार के अतिरिक्त सम्भवतः अन्य कोई भी पहुँच सकता। हाँ, पहुँचने का बहाना भले ही कोई करें किन्तु आज का कलाकार इस लक्ष्य को इंगित कर रहा है। जो उसने कभी देखा नहीं, सुना नहीं, वह उसे अपने चित्रों को विशय बना रहा है। यद्यपि आज की कला को देखकर कभी ऐसा ही महसूस होता है कि मानव को सांस्कृतिक परम्पराओ से विशेश सरोकार नहीं रहा है। उनकी रचनाओं में रंग और टैक्चर का प्रभाव बढ़ा है। कलाकार औद्योगीकरण के इस युग में मशीनीकरण से प्रभावित होकर नये–नये प्रयोग कर रहा है। किन्तु आज की कला का स्परूप बीसवीं सदी के औद्योगिक, वैज्ञानिक और तकनीकी अभ्यता के अनुरूप है। अतः इस प्रकार इन कलाओं को बढ़ावा देना आज की यथार्थता बन गई है।

भारत एक प्राचीन सांस्कृतिक देश है। कला मानव संस्कृति की उपज है। इसका उदय मानव की सौन्दय भावना का परिचायक है। यहाँ की कला एवं संस्कृति में लोककला का अनूठा समन्वय दिखाई देता है। अनेक विद्वानों ने समय–समय पर लोककला के महत्त्व को बताया है। लोककलाऐं हमारे देश में लोक परम्पराओं संस्कृति का दर्पण है। जो विभिन्न रीति रिवाज उत्सव में देखे जा सकते हैं। भारत जेसे देश में विभिन्न प्रान्तों में विविध रूपों में लोककला देखी जा सकती है। जो विभिन्न रीति रिवाज उत्सव में देखे जा सकते हैं। भारत जैसे देश में विभिन्न प्रान्तों में विविध रूपों में लोककला देखी जा सकती है। जो विभिन्न नामों से जानी जाती है।

सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त होने वाली कलाएँ ललित कलायें कहलाती हैं। वह कला जिसके अभिव्यंजन से सुकुमारता और सौन्दर्य की अपेक्षा हो और जिसकी सर्षश्टि मुख्यतः मनोविनोद के लिए हो। जैसे–गीत, संगीत, नष्त्य, नाटक तथा विभिन्न प्रकार की चित्रकलाएँ। इसमें विभिन्न माध्यमों का प्रयोग पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता रहता है।

इतिहासकारों के अनुसार ललित कलाएँ मात्र चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला तक ही सीमित थी। परन्तु आज के संदर्भ में ललित कला का रूप कुछ इससे विस्तष्त हो गया है और कला में दिखने वाली कला के साथ–साथ निश्पादन कला, चित्रकला, मूर्तिकला, लेखन कला, संगीत, नष्त्य, नाटक, वास्तुकला, छायाचित्र इंस्टोलेशन व छपाई की कला जैसी विविध शैलियों को ललित कला से जोड़कर देखा जाता है। फाईन आर्ट शब्द का अर्थ आज बहुत बडत्रे स्तर और आम जीवन से हटकर किसी भी कार्य की दक्षता के साथ जोड़ कर देखा जाने लगा है जैसे खेल को भी आज खिलाड़ियों ने फाइन आर्ट के समरूप लाकर खड़ा कर दिया है।

ललित कला को व्यावसायिक कला से बिल्कुल भिन्न माना गया है क्योंकि मार्डन आर्ट के शुरूआती दौर में कला के लिए समाज के परिपेक्ष्य में कुल मूल्यों को आधार मानकर समसामयिक जरूरतों और रूचि को उजागर किया गया है। जिससे कला के संदर्भ में माने जाने की वैचारिक धारा को बढ़ावा मिल सके। जबकि कला विचारकों ने कला के लिए मानदण्ड निर्धारित न करके कला के विषय, सौन्दर्य भाव को ज्यादा महत्व दिया है।

संगीत, नृत्य व नाटक मंचन इत्यादि ललित कला का विरोधाभास इसलिये भी बढ़ जाता है कि ललित कला में मात्र पारम्परिक कला, चित्रण ही नहीं बल्कि निष्पादनकलाओं के साथ–साथ लेखन कला भी इसी फाईन आर्ट का महत्वपूर्ण हिस्सा है। दैनिक जीवन की इन उपयोगी वस्तुओं का निर्माण यद्यपि ललित कला के लक्ष्य से नहीं हुआ, तथापि सामूहिक जीवन की कलाप्रियता का अंश हमें इसमें दृष्टिगोचर होता है और इन्हें कलात्मक वस्तुएँ कहे तो गलत नहीं होगा। सभ्यता के विकास के साथ–साथ मानव ने अपनी निर्मित वस्तुओं में उपयोगी धारणा को नहीं छोड़ा परन्तु उसकी कलाप्रियता ने अपनी प्रवाहशीलता द्वारा कुछ मात्रा में उन्हें ललित कला के लिये सुन्दर उपादान बना दिया। यह केवल आधुनिक युग की देन है कि जहाँ कला एक ओर सामूहिक न होकर व्यक्तिगत हुई, दूसरी ओर उसकी उपयोगिता कला, कला के लिए हो, इस उद्देश्य को लेकर चली, यह दूसरी बात है कि अनुपयोगी कला का प्रभाव भी हमारी उपयोगी वस्तुओं पर पड़ज्ञ और एक प्रकार से उसने सामूहिक रूप ले लिया। मोहनजोदाड़ों की नृर्तकी की धातु की मूर्ति से उस काल की कला का स्तर, दृष्टिकोण एवं आवश्यक गुण हमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं और यदि हम बाद की धातु मूर्तियों में देखें, जो कि दसवीं शताब्दी से प्रचुर मात्रा में बननी प्रारम्भ हो गई थीं, तो नर्तकी उन सब गुणों से परिपूर्ण है जो एक उच्च कोटि की मूर्ति में होने चाहिए। नटराज की कांसे की मूर्ति की भावपूर्ण गतिशीलता में हम परम्परागत कला सौन्दर्य के सब लक्षणों के साथ–साथ आधुनिक मापदंडों द्वारा भी सर्वगुण सम्पनन पाते हैं।

सभी कलाओं की भांति धातु और काष्ठ की मूर्तियाँ भी विदेशी राज्य के भिन्न दृष्टिकोण के कारण और उचित संरक्षण तााि प्रोत्साहन के अभाव में निर्जीव व रूढ़िग्रस्त हो गई। कहीं उसका लोप हुआ तो कहीं उनके कुशल कारीगरों ने जीवननिर्वाह के लिए अन्य काम सम्भाल लिए। शिक्षित कलाकारों ने भी विदेशी कला का अनुसारण किया किन्तु अब फिर इन खोजी हुई वैभवशाली कलाओं की ओर ध्यान दिया जा रहा है और अनेक कलाकारों ने आज काष्ठ मूर्तिकला को अपना माध्यम बनाया है जिसमें भारतीय परम्परागत शैली के साथ हम आज अन्तर्राष्ट्रीय कलादृष्टि का सुन्दर समन्वय पाते हैं। प्रत्येक माध्यम का अपना स्वतंत्र गुण हैं जो दूसरे माध्यम में हमें नहीं मिलता। धातु की मूर्ति काष्ठ जैसी न लगे और काष्ठ की मूर्ति पत्थर, सीमेंट अथवा धातु जैसी न लगे और उसके अंर्तहित गुणों को परखकर माध्यम के अनुकूल, रंग, रूप को ध्यान में रखकर कलाकार अपनी कृति की कल्पना करें और उसके गोपनीय सौन्दर्य

को उन्मीलित कर दे जिससे उतार चढ़ाव, रेखा इत्यादि के सम्मिश्रण से एक मौलिक रचना प्रस्तुत हो, यही आधुनिक कलाकार का ध्येय और उद्देश्य है।[5]

कला के अन्तर्गत चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला तथा हस्तकला प्रमुख है और सभी कलाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारत के जन–जीवन में न केवल प्रागैतिहासिक युग से अपितु वर्तमान में भी इसका विशेष महत्व दृष्टिगोचर होता है। लोक संस्कृति का अहम भाग है लोक कला। यह संस्कृति की पहचान है जहाँ तक भारतीय लोक संस्कृति की बात है इसमें लोक कला का विशेष महत्व हैं कला प्रयोजन अभिव्यक्ति, यश प्राप्ति, ह्रदय तत्व की प्रधानता, धनोपार्जन, सेवा, आनंद की प्राप्ति, विश्व कल्याण आदि हो सकते हैं।

लोक संस्कृति में चित्रों की प्राचीनता भाषा से भी प्राचनी है। लोक संस्कृति में विभिन्न रंगों का प्रयोग हुआ। ये रंग मानव मन की भावनाओं को भी व्यक्त करते हैं। जैसे–पीला रंग प्रसन्नतादायक, यश, दिव्यता, सूर्य प्रकाश आदि का प्रतीक है। लाल रंग सर्वाधिक उत्तेजक व आकर्षक है, सक्रिय और आक्रामक है, साथ ही यह रंग स्त्रियों में भी लोकप्रियत हैं नीला रंग शांति, माधुर्य, ईमानदारी, आशा और लगन का प्रतीक है। हरा रंग तटस्थ व ताजगी का प्रतीक है। बैंगनी रंग राजसी रंग है। समृद्धि, वैभव व शौर्य का प्रतीक है। सफेद रंग पवित्रता, स्वच्छता, शांति और तेजस्विता का प्रतीक है। काला रंग प्रकाशहीन, उत्तेजनाहीन, शोक, भय पाप, निराशा का प्रतीक है। इस प्रकार लोक संस्कृति में कला मानव की सहचरी के रूप में सदा साथ रही है। जीवन पद्धति मार्ग प्रशस्त करती है, संस्कृति के नियम शास्वत होते हैं, जो उस समय को एक विशिष्ट जीवन व्यतीत करने की चेतना प्रदान करते हैं, परिणामस्वरूप हम देखते तो हर देश, समाज अथवा राज्य एक विशिष्ट संस्कृति के लिए जाना जाता है। संस्कृति क्या है, इसकी जानकारी अपरिहार्य है। सामान्यतः सभ्यता एवं संस्कृति को पर्यायवाची मानकर विचार करने की भ्रान्तिपूर्ण प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

संस्कृति से तात्पर्य उन सिद्धान्तों से है, जो समाज में निश्चित प्रकार का जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते हैं, हमारे जीवन में जो भी मानसिक अवस्था, मानसिक प्रवृत्ति हैं, उससे जीवन को परिकृष्त, शुद्ध, पवित्र बनाया जाना ही संस्कृति है।[6]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. प्रताप, डॉ0 रीता. (वैश्य). (2004). भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास. जयपुर. पृष्ठ **7.**
2. पाण्डेय, डॉ0 सुरेन्द्र. भारत में कला शिक्षण के प्रयास आधुनिक सन्दर्भ में. पृष्ठ **2.**
3. अग्रवाल, डॉ0 जी0के0. (1991). आधुनिक भारतीय चित्रकला. आगरा. पृष्ठ **19–21.**
4. पाण्डेया, डॉ0 सुरेन्द्र. भारत में कला शिक्षण के प्रयास आधुनिक सन्दर्भ में. पृष्ठ **3.**
5. शर्मा, अवनिाश बहादुर. भारतीय चित्रकला का इतिहास. प्रकाश बुक डिपोः बरेली. पृष्ठ **45.**
6. गैरोला, वाचस्पति. (1972). भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास. इलाहाबाद. पृष्ठ **30.**